तृतीय अध्याय

अविशेषाद् विशेषारम्भः ॥ १ ॥

(अविशेषात्) सामान्य धर्मवाले=स्थूल के प्रति कारणता से सामान्य सम्बन्ध रखने वाले महत्तत्त्वादि—तन्मात्रपर्यन्त गण से (विशेषारम्भः) विशेषों=विशिष्टरूप से व्यक्त पृथिवी आदि स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

तस्माच्छरीरस्य ॥ २ ॥

(तस्मात्) उस पञ्च स्थूलभूतगण से (शरीरस्य) स्थूल शरीर का निर्माण होता है ॥ २ ॥

तद्बीजात् संसृतिः ॥ ३ ॥

(तद्बीजात्) उस स्थूल शरीर के बीजभूत महत्तत्त्व से—तन्मात्रपर्यन्त आदि से निर्मित वासनायुक्त सूक्ष्मशरीर से (संसृतिः) एक देह से दूसरे देह में गति होती है—"**योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः**" (मनु० ६।६३) इस अन्तरात्मा की सृतियां=गतियां असंख्य योनियों में होती हैं ॥ ३ ॥

कब तक वह बीज भूत महत्तत्त्वादिक प्रवृत्त होता है, यह कहते हैं—

आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ॥ ४ ॥

(च) और (अविशेषाणाम्) उन बीजरूप महत्तत्त्व-अहङ्कारतन्मात्रों का (प्रवर्तनम्) स्थूलशरीरनिर्माणार्थ प्रवृत्ति=व्यवहार (आविवेकात्) जब तक विवेक न हो जावे तब तक होता है, विवेक हो जाने पर निवृत्त हो जाता है ॥ ४ ॥

और भी—

उपभोगादितरस्य ॥ ५ ॥

(इतरस्य) अविशेष अर्थात् महत्तत्त्वादि लिङ्गदेह से भिन्न विशेष अर्थात् स्थूल शरीर की प्रवृत्ति वर्तमानता स्थिति (उपभोगात्) उपभोग के हेतु होती है=जब तक उपभोग है तब तक वह प्रवृत्त होता है=रहता है। किन्तु लिङ्ग देह तो जब तक विवेक न हो जावे तब तक रहता ही

है, स्थूल शरीर के नाश के साथ उसका नाश नहीं होता ॥ ५ ॥

हाँ—

सम्प्रति परिष्वक्तो * द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥

(सम्प्रति) पूर्वसूत्र से उपभोग लक्षित है। सम्प्रति=उपभोगकाल में (द्वाभ्याम्) स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीरों से (परिष्वक्तः) घिरा हुआ=बन्धा हुआ आत्मा होता है ॥ ६ ॥

उन दोनों शरीरों में—

मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न ॥ ७ ॥

(स्थूलं प्रायशः—मातापितृजम्) स्थूल शरीर प्रायः माता-पिता से उत्पन्न होता है। प्रायः कथन से आरम्भसृष्टि में वह भी माता-पिता से नहीं अपितु अयोनिज=अमैथुन होता है, तथा इस समय भी स्वेदज। दंश, कीट आदि उद्भिज वृक्ष आदि भी बिना माता-पिता के होते हैं (इतरत्—न) स्थूल से भिन्न सूक्ष्म शरीर तो माता-पिता से किसी का भी नहीं होता ॥ ७ ॥

उन दोनों स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में भोगप्राप्ति किस में होती है? यह कहते हैं—

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ॥ ८ ॥

(पूर्वोत्पत्तेः-एकस्य) पूर्वसर्गादि में उत्पत्ति जिस की है ऐसे एक लिङ्गशरीर के (भोगात्) सुख-दुःख के भोगसम्भव से (तत्कार्यत्वम्) सुख-दुःख की प्रतीति होती है (इतरस्य न) सूक्ष्म शरीर से भिन्न स्थूल शरीर का सुख-दुःख प्रतीति कार्य नहीं है ॥ ८ ॥

और सूक्ष्म शरीर—

सप्तदशैकं लिङ्गम् ॥ ९ ॥

वक्तव्य—अनिरुद्धवृत्ति में सूत्रार्थ अठारह पदार्थपरक है। वहां लिङ्ग शरीर अठारह पदार्थ वाला कहा है—"सप्तदश च एकञ्च अष्टादश, तैः लिङ्गं सूक्ष्मदेहः उत्पद्यते बुद्ध्यहङ्कारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दश इन्द्रियाणीति" (अनिरुद्धः) अर्थात् सतरह और एक अठारह उनके साथ लिङ्ग=सूक्ष्मदेह उत्पन्न होता है; वे हैं—बुद्धि, अहङ्कार, मन, पांच सूक्ष्म भूत, दश इन्द्रियां। विज्ञानभिक्षुभाष्य में अनिरुद्ध के अर्थ का खण्डन

* 'परिष्वक्तः' 'पाठोऽनिरुद्धवृत्तेः', 'परिमुक्तः' विज्ञानभिक्षुभाष्यस्थः।

किया है—''न तु सप्तदशमेकं चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम्'' (विज्ञानभिक्षुः)। परन्तु विज्ञानभिक्षुभाष्य में भी पदार्थ तो वैसे ही सूक्ष्म शरीर के अठारह माने हैं, केवल अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव दिखलाकर ''एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश, अहङ्कारस्य बुद्धावेवान्तर्भावः'' (विज्ञानभिक्षुः) इस प्रकार कथन से क्या हुआ? पदार्थ तो वही अठारह स्वीकार किये, परन्तु सरलता से नाक न पकड़ी वक्रता का आश्रय लेकर पीठ के पीछे से हाथ लाकर उलटे घुमाकर पकड़ी। अहङ्कार तो पच्चीस पदार्थगण में स्वतन्त्र पदार्थ गिना गया है, उसका कैसे बुद्धि में अन्तर्भाव कल्पित किया जा सकता है? अन्य स्वामी हरिप्रसाद आदि भाष्यकारों ने भी उसी प्रकार अठारह पदार्थों को अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके सतरह माना है। यह कथनशैली सांख्यपरिगणन शैली और सूत्रपदों के विरुद्ध है। तथा विज्ञानभिक्षुभाष्य में सूत्रस्थ 'एकम्' इस पद से 'सब का लिङ्गशरीर एक है' यह कहा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि चतुर्थ सूत्र ''**आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम्**'' [४]=विवेकपर्यन्त ही लिङ्ग शरीर ठहरता है, जिसके द्वारा जीवात्मा दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त करने को गति करता है। तथा वेदान्त दर्शन में भी ''**तदापीतेः संसारव्यपदेशात्**'' (वेदान्त० ४। २। ८)=प्रत्येक का सूक्ष्म शरीर पृथक् है और वह जब तक मोक्ष न हो तब तक रहता है। अपितु उस सूक्ष्म शरीर के द्वारा जीवात्मा सुख-दुःख की अनुभूति करता है, यह अभी इसी अध्याय में सांख्यकार ने ''**पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य**'' [८] आठवें सूत्र में कहा है।

इस प्रकार भोग सबके अलग-अलग हैं, सूक्ष्म शरीर भी अलग-अलग हैं। 'एक' लिङ्ग शरीर का कथन करना अयुक्त है। यहां सूत्र में लिङ्ग शरीर के अठारह पदार्थ तो सब भाष्यकारों ने ही माने हैं। अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके 'सतरह' कथनमात्र ही है। अतः सरलता का अवलम्बन कर सूत्रार्थ होना चाहिए, जो हमें अभीष्ट है। अब हम सूत्र का अर्थ करते हैं—

(सप्तदश) पांच तन्मात्राएं, ग्यारह इन्द्रियां [मन, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां] अहङ्कार, ये सतरह (एकं लिङ्गम्) एक महत्तत्त्व=बुद्धि। लिङ्ग शब्द से महत्तत्त्व अभीष्ट है। जैसे योगदर्शन में कहा है—''**विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि**'' (योग० २। १९)। '**सप्तदश, एकं लिङ्गम्**' यह पृथक्-पृथक् कथन क्यों किया? क्यों नहीं '**अष्टादश**'

ऐसा ही कह दिया? उस लिङ्ग=महत्तत्त्व की प्रधानता के प्रदर्शनार्थ प्रयोग यह है कि यहां सूक्ष्मशरीर में प्रमुख 'लिङ्ग' है। उस को आश्रित करके ही यह लिङ्गशरीर कहा जाता है। जैसे पांच भूतों में सब से अधिक स्थूल पृथिवी 'प्रधान' है। पांच भूत स्थूल शरीर के निमित्त होते हुए भी 'पार्थिव' कहा जाता है। उसकी स्थूलता में पृथिवी की प्रधानता से ऐसा कथन है। वैसे ही '**एकं लिङ्गम्**' इस प्रकार लिङ्ग की प्रधानता को आश्रितकर पृथक् कथन करना लिङ्ग शरीर की प्रसिद्धि के लिये है। और जो विज्ञानभिक्षुभाष्य में वचन उद्धृत किया है—''कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ बन्धमोक्षैः प्रयुज्यते। सप्तदशैकेनापि राशिना युज्यते च सः॥'' कहां का वचन है, यह सूचित नहीं किया। वह प्रामाणिक शास्त्र का है या अप्रामाणिक ग्रन्थ का वचन है, यह ज्ञात नहीं होता। कदाचित् किसी नव्यग्रन्थ का वचन हो। तथापि इस वचन से विज्ञानभिक्षुभाष्य की पुष्टि नहीं होती। जैसा कि विज्ञानभिक्षु ने सूत्रार्थ को अन्यथा करते हुए लिङ्ग शरीर में अठारह पदार्थ संकलित किए हैं। किन्तु यहां भी सीधे शब्दों में 'सतरह' अलग और एक अलग कहा है '**सप्तदशैकेन राशिना**' सप्तदशक राशि सतरह पुनः 'कर्मात्मा पुरुषः'=कर्मात्मा पुरुष अहङ्कारयुक्त जीव कहा है। ''**निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा ह्येते**'' (सांख्य० ६। ६२) ''**विशिष्ट जीवत्वम्**'' (सांख्य० ६। ६३)=अहङ्कारविशिष्ट आत्मा जीव हुआ। फिर ''**अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिः**'' (सांख्य० ६। ६४)=कर्तृत्व अहङ्कार का या अहङ्कारविशिष्ट आत्मा का होता है। ऐसे ही यहां उद्धृत वचन में भी 'कर्मात्मा पुरुषः'=कर्मात्मा पुरुष अहङ्कार या अहङ्कारविशिष्ट आत्मा अभीष्ट है—'सप्तदशैक' राशि के साथ सङ्गत है। तब 'सतरह' और 'एक' अठारह तो हो गए लिङ्ग देह के पदार्थ?॥ ९॥

लिङ्ग शरीर तो सब का अठारह पदार्थों का समान है, पुनः स्थूल शरीर, व्यक्तिभेद=देव, मनुष्य, तिर्यक् का भेद क्यों है? ऐसी आकांक्षा के उठने पर कहते हैं—

व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्॥ १०॥

(व्यक्तिभेदः) वह स्थूल शरीररूप व्यक्तिभेद=देव, मनुष्य, तिर्यक् शरीर का भेद (कर्मविशेषात्) कर्म=अदृष्ट विशेष से होता है। कर्म शब्द अदृष्ट के लिये है॥ १०॥

कर्मविशेष=धर्माधर्मादृष्ट-विशेष तो आत्मानुवर्ती आत्मा में रहने वाला होता है, पुनः कैसे व्यक्तिभेद स्थूल शरीर में सम्भव है? इस विषय

में कहते हैं—

तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ॥ ११ ॥

(तदधिष्ठानाश्रये देहे) कर्म आत्मानुवर्ती हो किन्तु आत्मा का अधिष्ठान लिङ्गशरीर है और लिङ्गशरीर का आश्रय स्थूल देह है, उस स्थूल देह में (तद्वादात् तद्वादः) लिङ्गदेह होने के कारण से स्थूलदेह का व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न होना व्यक्तिभेद होता है ॥ ११ ॥

अच्छा, लिङ्गशरीर में ही धर्माधर्म कर्मरूप अदृष्ट का फल रहे, फिर किसलिये व्यक्तिभेद स्थूल शरीर में है ? इस के विषय में कहते हैं—

न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥ १२ ॥

(स्वातन्त्र्यात्—न) स्वतन्त्रता से=स्वतन्त्ररूप से लिङ्ग शरीर से अदृष्ट की फलनिष्पत्ति नहीं होती (तदृते) स्थूलशरीर के बिना। (छायावत् चित्रवत्—च) जैसे छाया या चित्र बिना आश्रय के नहीं रहता। अतः स्थूल शरीर में अदृष्ट का व्यक्तिभेद होना अवश्यम्भावी है ॥ १२ ॥

लिङ्ग शरीर तो चेतन नहीं है किन्तु जड़ है, पुनः जड़ का भी जड़ आश्रय अदृष्टफल के लिये हो, यह कैसे युक्त है ? इसका उत्तर—

मूर्तत्वेऽपि न सङ्घातयोगात् तरणिवत् ॥ १३ ॥

(मूर्तत्वे—अपि न) मूर्तत्व यहाँ जड़त्व अर्थ में है। लिङ्ग शरीर जड़ होने पर भी अदृष्टफलवाला=कर्मफल भोक्ता नहीं होता (तरणिवत् सङ्घातयोगात्) जैसे तरणि=सूर्यप्रकाश सङ्घात पिण्डभूत ठोस पदार्थ स्थूल के योग से प्रकट होता है, भासता है। वैसे ही लिङ्ग शरीर जड़ होता हुआ भी व्यक्त स्थूल शरीर की अपेक्षा रखता है। अतः व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न स्थूल शरीर का होना आवश्यक है ॥ १३ ॥

लिङ्ग शरीर का परिमाण क्या है, यह कहा जाता है—

अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः ॥ १४ ॥

(अणुपरिमाणम्) लिङ्गशरीर अणुपरिमाणवाला है। यहां अणुकथन से विभु होने का निषेधमात्र अभिप्राय है। इससे उसका एकदेशी होना अभीष्ट है, कैसे (तत्कृतिश्रुतेः) उसकी कार्यता की=उत्पत्ति की श्रुति होने से—"**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**" (मुण्ड० २। १। ३) ॥ १४ ॥

अन्य हेतु—

तदन्नमयत्व [ादि] श्रुतेश्च ॥ १५ ॥

(तदन्नमयत्वादिश्रुतेः—च) तथा लिङ्ग शरीर के अन्नमयत्व [=अन्न अर्थात् भोजन से सक्रिय रहने वाला] आदि विषयक श्रुति होने से—''**अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्**'' (छान्दो० ६।५।४)। अतः वह मन उत्पन्न होनेवाला है ॥ १५ ॥

पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद् राज्ञः ॥ १६ ॥

(लिङ्गानाम्) लिङ्गशरीरों की या लिङ्गशरीररूप महत्तत्त्व, बुद्धि आदि की, उनके भागों की (संसृतिः) दूसरे देह में संसरण=गति=प्राप्ति (पुरुषार्थम्) पुरुष के लिये है। जैसे पूर्व कहा है—''**आत्मार्थत्वात् सृष्टेः**'' ''महदादिक्रमेण पञ्च भूतानाम्'' (सांख्य० २।११)=महदादि क्रम से पञ्चतन्मात्र पर्यन्त सृष्टि आत्मार्थ है (राज्ञः सूपकारवत्) राजा के पाककर्ता=रसोइये की भांति, जैसे राजा का रसोइया सारी पाकसृष्टि राजा के लिए करता है, ऐसे समस्त करण-सृष्टि पुरुष के लिये है ॥ १६ ॥

और भी—

पाञ्चभौतिको देहः ॥ १७ ॥

(देहः) मांसादि से गठित देह=स्थूल शरीर (पाञ्चभौतिकः) पांच भूतों से सिद्ध होनेवाला या सम्पन्न होनेवाला है ॥ १७ ॥

चातुर्भौतिकमित्येके ॥ १८ ॥

(चातुर्भौतिकम्) आकाश के बिना पृथिवी आदि चार भूतों से निष्पन्न होने वाला है (इति—एके) कुछेक ऐसा मानते हैं ॥ १८ ॥

ऐकभौतिकमित्यपरे ॥ १९ ॥

(ऐकभौतिकम्) स्थूल शरीर एक भूत पृथिवी मात्र से उत्पन्न हुआ अन्य कुछ मानते हैं ॥ १९ ॥

देह में चैतन्य का विचार—

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥ २० ॥

(चैतन्यं सांसिद्धिकं न) देह में चैतन्य=चेतनता स्वाभाविक=देह के उत्पादक भूतों से उत्पन्न हुई नहीं है। देह के जो कारण भूत हैं उन से निष्पन्न या प्रकट नहीं है। क्योंकि (प्रत्येकादृष्टेः) प्रत्येक पृथक्-पृथक् भूत में उस चैतन्य=चेतनता के अदृष्ट होने से, न मिलने से, न पाए जाने से, उनमें जडत्व ही है ॥ २० ॥

देह के चैतन्य मानने पर यह दोष आता है—

प्रपञ्चत्वाद्यभावश्च * ॥ २१ ॥

(प्रपञ्चत्वाद्यभावः च) प्रगमन=प्रयाण=प्रस्थान कर गये पञ्च प्राण जिस देह से वह प्रपञ्च अर्थात् मृतदेह। मृतदेह का भाव प्रपञ्चत्व=मृतदेहत्व=मृतत्व=मरण तथा आदि से सुषुप्ति मूर्च्छा अर्थात् का भी ग्रहण होता है। मरण, सुषुप्ति, मूर्च्छा का अभाव हो जावे देह के चैतन्य मानने पर, क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा के समय देह तो है, पुनः उसका धर्म चैतन्य मानने पर वह भी होना चाहिए, पर नहीं होता है। अतः चैतन्य धर्म देह का नहीं, आत्मा का है॥ २१॥

फिर आशङ्का करके समाधान करता है—

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः ॥ २२ ॥

(मदशक्तिवत्—चेत्) देह का चैतन्य स्वाभाविक न हो किन्तु मदशक्ति की भांति देह में प्रकट हो जावे, जैसे भिन्न-भिन्न वस्तुओं से बनी सुरा [=शराब] में मदशक्ति-उत्पन्न हो जाती है, वैसे देह में मदशक्ति की भाँति चैतन्य है। मदशक्ति नाश से नशा उतर जाने की भांति देह का मरण आदि बन सके, यदि ऐसी कल्पना की जावे तो (सौक्ष्म्यात् प्रत्येकपरिदृष्टे) सूक्ष्मता से वैद्यकशास्त्र में प्रतिपादित मादकत्व-परीक्षण प्रकार से सुरा के प्रत्येक पदार्थ में मदशक्ति देखे जाने=पाए जाने पर (तदुद्भवः सांहत्ये) उसका उद्भव मेल=सुराघोल में हो जाता है। वैसे देह के कारण-भूतों में प्रत्येक में चैतन्य की मात्रा उपलब्ध नहीं, अतः विपरीत दृष्टान्त होने से देह का चैतन्य सिद्ध नहीं हो सकता॥ २२॥

देह का धर्म चैतन्य नहीं। चेतन पुरुष है, जो देह से भिन्न है, पुनः उसकी देह से मुक्ति कैसे हो, लिङ्ग शरीर की संसृति=संसरण=गति तो स्थूल शरीर के धारणार्थ होगी ही। इसका उत्तर है—

ज्ञानान्मुक्तिः ॥ २३ ॥

(ज्ञानात्—मुक्तिः) ज्ञान से=विवेक-साक्षात्कार से पुरुष की मुक्ति होगी॥ २३॥ और—

---

* एषोऽनिरुद्धपाठः। विज्ञानभिक्षुपाठस्तु "प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च"।

बन्धो विपर्ययात्॥ २४॥

(विपर्ययात्—बन्धः) उसके विपरीत अर्थात् अज्ञान से=अविवेक से बन्धन देह में होता है॥ २४॥

उस मुक्ति के विषय में—

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ॥ २५॥

(नियतकारणत्वात्) मुक्तिप्राप्ति में ज्ञान की नियतकारणता है= अनिवार्य कारणता है। अतः (समुच्चयविकल्पौ न) अन्य साधन के साथ ज्ञान=विवेक का समुच्चय=सहयोग या विकल्पभाव नहीं है। यद्यपि कहा जाता है "**विद्याकर्मणी समन्वारभेते**" (बृह० ४। ४। २)=ज्ञान-कर्म का समुच्चय। परन्तु वह यह ज्ञान-कर्म का साधनता से समुच्चय मुक्तिविषयक=मुक्तिवर्णक नहीं है किन्तु पुनर्जन्मप्राप्ति के निमित्त वर्णित है—"**एष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो.....तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति..... तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते**" (बृह० ४। ४। २) अर्थात् यह आत्मा शरीर से निकलता है.....उसे विद्या-कर्म अन्य शरीर में उपयुक्त होते हैं। और जहां कहीं विकल्प प्रतिभासित होता है, जैसे—"**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा**" (यजु० ४०। १४), वहां कर्म को ज्ञान का अङ्ग कहना लक्ष्य है, न कि कर्म स्वतन्त्र विकल्परूप में मुक्ति का साधन माना है। श्रुति में ज्ञान को ही मुक्ति का साधन कहा है—"**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥**" (यजु० ३१। १८)॥ २५॥

पूर्वकथन की पुष्टि में दृष्टान्त कहता है—

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य॥ २६॥

(स्वप्नजागराभ्याम्—इव) स्वप्न और जागरण साधनों से जैसे (मायिका-अमायिकाभ्याम्) कल्पित और अकल्पित अनुभव फल हैं, वैसे कर्म और ज्ञान हैं। जैसे स्वप्न और जागरण का समुच्चय=सहस्थिति भाव नहीं होता विरुद्ध होने से, तथा विकल्प भी नहीं होता दोनों के भिन्न-भिन्न फल होने से। वैसे ही (उभयोः) कर्म और ज्ञान के समुच्चय और विकल्प के विषय में जानना चाहिए। अतः (पुरुषस्य मुक्तिः—न) ज्ञान और कर्म के समुच्चय या विकल्प से पुरुष की मुक्ति होती है, ऐसा कथन ठीक नहीं॥ २६॥

पूर्वपक्ष के रूप में कहता है—

इतरस्यापि नात्यन्तिकम्॥ २७॥

(इतरस्य—अपि) यदि मुक्तिप्राप्ति में ज्ञान ही नियत कारण है=कर्म उसका सहयोगी नहीं, तब यज्ञादि कर्म से इतर=भिन्न कर्म यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूप योगाभ्यास, अदृष्टकर्म=आन्तरिक कर्म के अनुष्ठान से भी (आत्यन्तिकं न) दुःखात्यन्त-निवृत्तिरूप मुक्तिपद या मुक्तिफल न सिद्ध हो सकेगा। योगाभ्यास के, कर्मसामान्य होने से तथा ज्ञान से अतिरिक्त होने से। और श्रुति में मुक्ति का साधन योगाभ्यास भी कहा है—"**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे**" (मुण्ड० ३। २। ६)॥ २७॥

और भी—

सङ्कल्पितेऽप्येवम्॥ २८॥

(सङ्कल्पिते—अपि) सङ्कल्पित=मानसिक जप में भी (एवम्) पूर्व की भांति मुक्ति फल सिद्ध न हो सकेगा। मानसिक कर्म जप-ध्यान मुक्ति का साधन कहा गया है—"**ओमित्येव ध्यायथात्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्**" (मुण्डक २। २। ६)=ओम् का ध्यान मोक्ष का साधन है। तथा "**ओं क्रतो स्मर**" (यजु० ४०। १५) "**तज्जपस्तदर्थ-भावनम्**" (योग० १। २८) ओम् का जप और उसके अर्थ का अनुभव करना कहा है।

पूर्व सूत्र और इस सूत्र का अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में अप्रासङ्गिक व्याख्यान किया है॥ २८॥

दोनों सूत्रों में कहे पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है—

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत्॥ २९॥

(भावनोपचयात्—शुद्धस्य) यम-नियम आदि योगाभ्यासानुष्ठान से तथा मानसिक जपध्यान से भावनोपचय=पवित्र भावनाओं, परमानुराग भावनाओं का संग्रह-संवर्धन होता है। उससे योगाभ्यासी, ध्यानी, शुद्ध-पवित्र वृत्तिरहित=वासनारहित हो जाता है, पुनः उस शुद्ध, पवित्र, वृत्तिरहित=वासनारहित योगाभ्यासी ध्यानी का (सर्वप्रकृतिवत्) मुक्ति-प्राप्ति से सब कहा साधन प्रकृतिवत् हो जाता है। प्रकृति=मूल=मूलसाधन के समान हो जाता है। मूलसाधन है ज्ञान नियतकारण, ज्ञान का उस जैसा

अनन्य अङ्ग हो जाता है। जैसे कहा है—"**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**" (योग० २। २८)=योगाङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धिक्षीण हो जाने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक बढ़ता है। तथा "**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः**" (मुण्ड० ३। २। ६) यहां भी योगानुष्ठान से शुद्ध होना कहा है। अथवा (सर्वं प्रकृतिवत्) प्रकृति-स्वभाव=स्वभावानुसार सब हो जाता है, पुरुष का स्वभाव नित्य शुद्धबुद्धमुक्त होना है—"**न नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते**" (सांख्य० १। ११)=पुरुष नित्य शुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव को प्राप्त हो जाता है। तथा "**अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा धीरो हर्षशौकौ जहाति**" (कठो० २। १२)=योगाभ्यास से परमात्मा को प्राप्त कर हर्ष-शोक छोड़ देता है। अथवा (सर्वं प्रकृतिवत्) प्रकृति सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की साम्यावस्था=समावस्था गुणचेष्टा रहितावस्था है, वैसे ही योगी सब अन्तःकरण गुणों की विषमता से रहित हो जाता है, गुणाधिकाररहित निरुद्ध हो जाता है॥ २९॥

अच्छा, योगाभ्यास, ध्यान मुक्तिप्राप्ति में ज्ञान का अङ्ग हो साधनभाव से, पुनः वह ध्यान आदि कैसे सेवन किए जावें, इसका विवरण करते हैं—

रागोपहतिर्ध्यानम्॥ ३०॥

(रागोपहतिः) संसार में आसक्ति=लगाव या इन्द्रियभोगों की प्रवृत्ति राग है, उस राग की निवृत्ति (ध्यानम्) ध्यान है=मन का स्थिर होना है॥ ३०॥

ध्यान का साधन—

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः॥ ३१॥

(वृत्तिनिरोधात्) प्रमाण आदि पांच वृत्तियों के निरोध से (तत्सिद्धिः) ध्यान की सिद्धि होती है॥ ३१॥

वृत्तिनिरोध कैसे हो, यह कहते हैं—

धारणाऽऽसनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः॥ ३२॥

(धारणा-आसन-स्वकर्मणा) धारणा से, आसन से, स्वकर्म से=अपने कर्म से (तत्सिद्धिः) वृत्तिनिरोध की सिद्धि होती है॥ ३२॥

धारणा का लक्षण—

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्॥ ३३॥

(निरोधः) निरोध शब्द धारणा के लिये है। देशबन्ध=स्थान विशेष

में धारणारूप मन का निरोध (छर्दिविधारणाभ्याम्) प्राण के छर्दन=वेग से बाहिर वमन की भांति निकालने से और रोकने से अर्थात् प्राणायामों होता है ॥ ३३ ॥

आसन का लक्षण—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४ ॥

(स्थिरसुखम्) शरीर का स्थिरसुख जिस में हो वैसा शरीर-चेष्टारहित शरीरसुख का सम्पादक (आसनम्) आसन होना चाहिए ॥ ३४ ॥

स्वकर्म का लक्षण—

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ॥ ३५ ॥

(स्वकर्म) अपना कर्म (स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्) अपने आश्रम अर्थात् मुमुक्षु के आश्रम में विहित कर्म का, संन्यासाश्रम में विहित अहिंसा आदि कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३५ ॥

और फिर इन उपायों से वृत्तिनिरोध करना चाहिए—

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ ३६ ॥

(वैराग्यात्) वैराग्य से=अपर और पर भेद से दो प्रकार के वैराग्य से=विषयदोषदर्शन और ज्ञानप्रसाद से—"**ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्**" (योग० १ । १६ व्यासः) तथा (अभ्यासात्) ध्यानाभ्यास से वृत्तिनिरोध होता है ॥ ३६ ॥

अब विपर्यय विषय को कहता है—

विपर्ययभेदाः पञ्च ॥ ३७ ॥

(विपर्ययभेदाः पञ्च) ज्ञान के प्रतिपक्षी विपर्यय=मिथ्याज्ञान [३ । २४] के भेद पांच हैं ॥ ३७ ॥

विपर्यय का कारण अशक्ति कहते हैं—

अशक्तिरष्टाविंशतिधा ॥ ३८ ॥

(अशक्तिः) अशक्ति (अष्टाविंशतिधा) अठाईस प्रकार की है ॥३८ ॥

फिर उसके कारण तुष्टि को कहते हैं—

तुष्टिर्नवधा ॥ ३९ ॥

(तुष्टिः—नवधा) तुष्टि तो नौ प्रकारवाली है ॥ ३९ ॥

उसका कारण सिद्धि और वह—

सिद्धिरष्टधा ॥ ४० ॥

(सिद्धिः—अष्टधा) सिद्धि आठ प्रकार की है ॥ ४० ॥

वक्तव्य—''**विपर्ययभेदाः पञ्च**'' [३७] ''**अशक्तिरष्टाविंशतिधा**'' [३८] ''**तुष्टिर्नवधा**'' [३९] ''**सिद्धिरष्टधा**'' [४०] **यह चतुःसूत्री कहकर वैसे ही** ''**अवान्तरभेदाः पूर्ववत्**'' [४१] ''**एवमितरस्याः**'' [४२] ''**आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः**'' [४३] ''**ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा**'' [४४] यह चतुःसूत्री फिर कही है। यह विपर्यय आदि की पुनरुक्ति अयुक्त प्रतीत होती है। हमारी सम्मति में यह पुनरुक्ति सूत्रकार ने इतनी ही नहीं की होगी, किन्तु विवरणसहित की होगी। कालवश या लेखनकर्ता के भ्रमवश अथवा किसी भाष्यकार के अज्ञानवश इन में दिये विवरण सूत्र से बाहर की बात समझकर पृथक् कर दिये हों, फिर थोड़े विवरण प्रायः संख्यानिर्देश के साथ यह पुनरुक्ति रह गई हो, यह सम्भव है।

दूसरी विचारणा—''**अवान्तरभेदाः पूर्ववत्**'' [४१] 'इस सूत्र में पूर्ववत्' शब्द सब पिछले सूत्रों में अनुगत हों 'पूर्वाचार्यों के विवरण के समान' अर्थ में तब ''**विपर्ययभेदाः पञ्च.....**'' [३६-४०] यह पूर्वचतुःसूत्री निरर्थक हो जावे।

तीसरी विचारधारा—उसी पूर्व चतुःसूत्री में ''**विपर्ययभेदाः पञ्च पूर्ववत्**'' [३७] ऐसी सूत्ररचना होनी चाहिए, वहीं से 'पूर्ववत्' शब्द का पूर्वचतुःसूत्री के अन्य तीन सूत्रों में भी अनुवर्तन किया जावे, फिर उत्तर चतुःसूत्री अनावश्यक हो जावे। दोनों चतुःसूत्रियों को रखने के लिये प्रथम विचारधारा अधिक युक्त है और हमें अभीष्ट है ॥

विपर्यय आदि चारों के का विवरण सूत्रकार क्रमशः दिखलाता है। उनमें विपर्यय को प्रथम कहता है—

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

(पूर्ववत्) पूर्ववत् यह 'पूर्वस्य पञ्च' इसको लक्षित करता है। पूर्व प्रकम के एक विपर्यय के पांच (अवान्तरभेदाः) अलग-अलग भेद हैं ''विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्—तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति'' (योग० १।८। व्यासः) तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र। ये पांच विपर्ययभेद हैं ॥ ४१ ॥

अशक्ति को कहता है—

एवमितरस्याः ॥ ४२ ॥

(एवम्—इतरस्याः) इसी प्रकार 'पूर्ववत्' अवान्तरभेद=अठाईस प्रकार एक अशक्ति से भी जानने चाहिएं। उनमें इन्द्रियों के वध—क्षति= इन्द्रियों की अशक्तियां, नौ तुष्टियों और आठ सिद्धियों के विघात उनके भरोसे रहने पर अशक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं॥ ४२ ॥

तुष्टि को कहता है—

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः * ॥ ४३ ॥

(आध्यात्मिकादिभेदात्) आध्यात्मिकादि अवान्तरभेद से (नवधा तुष्टिः) नौ प्रकार की तुष्टि होती है। आत्मा में अधिष्ठित होने से आध्यात्मिकी तुष्टि स्वात्मा में स्थित सन्तोषरूपा। आदि शब्द से बाहिरी विषयों में दोषदर्शन से उनसे घृणारूपा या वैराग्यरूपा तुष्टि बाह्या है। इस प्रकार दोनों तुष्टियां नौ प्रकार की हैं। उनमें आध्यात्मिक चार हैं और बाह्य पांच हैं। आध्यात्मिक तुष्टियां प्रकृति, उपादान, काल, भाग इन चार नामों से हैं। उनमें—प्रकृति परिणामवाली है, मैं परिणामी नहीं किन्तु नित्य ही शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाववान् हूँ, वह परिणामताप मुझे अपने में आरोपित नहीं, करना अन्य विवेकदर्शनाभ्यास मुझे नहीं करना, यह प्रकृतिविषयक 'अम्भ' नाम की तुष्टि है। प्रव्रज्याव्रत—संन्यासव्रत के उपादान स्वीकार से प्राकृतिक सम्बन्ध से मैं विमुक्त हो गया, अब ताप प्रसङ्ग नहीं और न ध्यान की आवश्यकता, यह उपादान प्रव्रज्योपादानरूपा '**सलिल**' नाम तुष्टि। ध्यान बहुत काल मैंने लगाया अब, ब्रह्मसाक्षात्कार होगा ही, आगे ध्यानाभ्यास बन्द कर देना चाहिए, यह '**कालाख्या ओघः**'=ध्यानसंग्रह तुष्टि है। अपने आप भाग्य से साक्षात्कार होगा, मैं भाग्यवान् हूँ, समाधिप्रज्ञा को प्राप्त हूँ, यह '**भाग्याख्या वृष्टि**' तुष्टि है। बाह्य तुष्टियां तो बाह्य विषय के उपराग से होती हैं विषयों के अर्जन—रक्षण—क्षय—सङ्ग—हिंसा के दोषदर्शन से। जो विषयों के अर्जन दोषदर्शन से तुष्टि होती है वह '**पार**' नाम की, रक्षण दोषदर्शन से '**सुपार**' नाम की, क्षयदोषदर्शन से '**पारपार**' नाम की, सङ्गदोषदर्शन से भोगदोषदर्शन से '**अनुत्तमाम्भ**' नाम की, हिंसादोषदर्शन से—बिना प्राणियों को पीडा दिए भोगसिद्धि नहीं होती, ऐसी तुष्टि '**उत्तमाम्भ**' नाम की॥ ४३ ॥

---

* ''आध्यात्मिका....'' पाठो विज्ञानभिक्षु का ''आध्यात्मिक्या....'' अनिरुद्ध का।

सिद्धि को कहता है—

ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ॥ ४४ ॥

(ऊहादिभिः) ऊहादि के भेदों से (सिद्धिः—अष्टधा) सिद्धि आठ प्रकार की है। उन में—गुरुमुख से अध्ययन न करके स्वयं अध्ययन करके ज्ञानलाभ होना अध्ययनसिद्धि '**तार**' नाम की, स्वयं अध्ययन भी न करके शब्दमात्र सुनकर ज्ञानोत्पत्ति होना शब्दसिद्धि '**सुतार**' नाम की, शब्द भी न सुनकर भीतर ज्ञान प्रादुर्भाव होना ऊहासिद्धि '**तारतार**' नाम की, ऊहा के बिना=तर्कना या भावना के बिना अभीष्ट प्राप्ति हो जाना प्राप्तिसिद्धि '**रम्यक**' नाम की, ब्रह्मपदार्थप्राप्ति के बिना निर्मलता का लाभ शुद्धि सिद्धि '**सदामुदित**' नाम की, स्वतः ही आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक-दुःखविमुक्ति विमुक्तिसिद्धि=त्रिधाविमुक्तिसिद्धि '**प्रमोद**=मुदित=मोदमान' नाम की ॥४४॥

उन ऊहादि सिद्धियों में—

नेतरादितरहानेन बिना ॥ ४५ ॥

(इतरहानेन बिना) इतर—अपने से भिन्न इतर या अन्य होता है, और वह अपने से पूर्ववर्ती, उस पूर्ववर्ती के हान के=अभाव के बिना (इतरात्—न) उससे भिन्न उत्तरवर्ती धर्म से सिद्धि नहीं होती, नहीं कहला सकती। जैसे—अध्ययनसिद्धि गुरुमुख से अध्ययन के अभाव में स्वयं अध्ययन से होती है, उससे आगे शब्दसिद्धि स्वयं अध्ययन के अभाव में होती है, पुनः शब्द-श्रवण के भी अभाव से 'ऊह' सिद्धि, वैसे ही प्राप्तिसिद्धि ऊह के अभाव के बिना नहीं होती, अभीष्टप्राप्ति के अभाव में 'नैर्मल्य' सिद्धि होती है, शोधन के अभाव में ही निर्मलतासिद्धि होती है, निर्मलता के अभाव के बिना आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक-दुःखविमुक्ति सिद्धि नहीं कहलाती।

इस सूत्र का विज्ञानभिक्षुभाष्य में अन्यथा व्याख्यान किया है। वहां योगदर्शन-प्रतिपादित मन्त्र-तप-समाधिसिद्धियों का खण्डन किया है, सूत्र के अभिप्राय को न जानकर। सूत्र के 'इतरात्' शब्द का सांख्यसिद्धि से इतर=भिन्न योगसिद्धि सिद्धि नहीं, यह ऊपर से अन्यथा कल्पना की है। तथा 'इतरहानेन बिना' इतर शब्द से विपर्यय का ग्रहण किया है, विपर्यय अनन्तर शब्द=समीप शब्द नहीं जो इतर शब्द से लक्षित हो। और भी योगदर्शनप्रतिपादित मन्त्रादि से होनेवाली सिद्धियों का मण्डन

सांख्यदर्शन में किया है—''योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः'' (सांख्य० ५। १२९)। यहां मन्त्रादि से होने वाली सिद्धियां सम्पुष्ट की हैं। अतः विज्ञानभिक्षु का व्याख्यान अयुक्त है॥ ४५॥

व्यक्तिसृष्टि के भेद और प्रयोजन कहे जाते हैं—

दैवादिप्रभेदा * ॥ ४६ ॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥ ४७ ॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(तत्कृते) पुरुष के निमित्त=पुरुष के लिये (आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्तम्) ब्रह्मा के शरीर से लेकर स्थावरपर्यन्त (दैवादिप्रभेदा सृष्टिः) दैव-आदि भेदयुक्त=दैव, मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर भेदयुक्त सृष्टि (आविवेकात्) विवेक हो जाने तक प्रवृत्त होती है। जब तक पुरुष को विवेक न हो जावे तब तक प्रवृत्त होती है, उस-उस योनि में शरीर धारण के लिये तथा भोग और अन्त में मोक्ष के लिये॥ ४६, ४७॥

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ॥ ४८ ॥

(ऊर्ध्वम्) ऊंची सृष्टि अर्थात् दैव सृष्टि (सत्त्वविशाला) सत्त्वगुणप्रधान होती है॥ ४८॥

तमोविशाला मूलतः ॥ ४९ ॥

(मूलतः) अधोभूता=नीच सृष्टि=तिर्यक् तथा स्थावर की सृष्टि (तमोविशाला) तमोगुणप्रधान होती है॥ ४९॥

मध्ये रजोविशाला ॥ ५० ॥

(मध्ये) मध्यमा सृष्टि=मनुष्य सृष्टि रजोगुणप्रधान होती है॥

प्रकृति की यह विविध सृष्टि क्यों होती है, इस के सम्बन्ध में कहा जाता है—

कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥ ५१ ॥

(प्रधानचेष्टा) यह विविध सृष्टिरूप 'प्रधान' की=प्रकृति की चेष्टा-परिणामक्रिया (कर्मवैचित्र्यात्) जीवात्माओं के कर्मों की विचित्रता=विविधता के हेतु होती है (गर्भदासवत्) गर्भ के दास=स्वभावतः दास जैसे स्वामी के लिये विविध चेष्टा करता है, वैसे ही प्रकृति भी स्वभावतः=सदा से पुरुष के निमित्त होती हुई उसके लिये विविध चेष्टा करती है,

* .....'प्रभेदाः' पाठोऽनिरुद्ध का।'.....प्रभेदा' विज्ञानभिक्षुका।

सृष्टिरूप को ग्रहण करती हुई ॥ ५१ ॥

अच्छा, उत्कृष्ट योनि सत्त्वप्रधान में कृतकृत्यता हो जावे, फिर मोक्ष से क्या करना ? यहां कहते हैं—

आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ॥ ५२ ॥

(उत्तरोत्तरयोनियोगात्) ऊंची-ऊंची योनि-सम्बन्ध से उत्कृष्ट स्थिति हो। परन्तु (तत्र—अपि—आवृत्तिः) वहां भी स्थायित्व नहीं किन्तु आवृत्ति= पुनर्जन्मप्रवृत्ति होती है। अतः (हेयः) उत्तरोत्तर योनिसम्बन्ध भी त्याज्य है ॥ ५२ ॥

और वहां उत्कृष्ट योनि में भी—

समानं जरामरणादिजं दुःखम् ॥ ५३ ॥

(जरामरणादिजं दुःखं समानम्) नीचयोनि से लेकर ऊंच योनि तक जरा=बुढापा, मृत्यु और जन्म का दुःख समान है। अतः ऊंची योनि में कृतकृत्यता नहीं ॥ ५३ ॥

अच्छा, उत्कृष्ट योनि को प्राप्त करके भी पुनरावृत्ति से पुनर्जन्म हो जावे। उसके कार्य होने से कार्य की शरण स्थायी नहीं होती, किन्तु कार्यों के कारण प्रकृति में लय हो जाने से तो पुनरावृत्ति न होगी, तब कारणलय से कृतकृत्यता हो जावे, माता की गोदप्राप्ति के समान। इस पर कहते हैं—

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ॥ ५४ ॥

(कारणलयात्—कृतकृत्यता न) कारणलय से कृतकृत्यता नहीं होती, पुनरावृत्ति का अभाव नहीं होता (मग्नवत्—उत्थानात्) जलाशय में मग्न हुए=अन्दर डुबकी लगाए हुए का पुनरुत्थान होता है=फिर आना होता है, अतः प्रकृति में लीन होने से कृतकृत्यता नहीं, क्योंकि प्रकृतिलीन का भी पुनर्जन्मार्थ बाहिर आना होता है ॥ ५४ ॥

कैसे उत्थान होता है, इस विषय में हेतु—

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥ ५५ ॥

(अकार्यत्वे—अपि) प्रकृति अकार्य होने पर भी (तद्योगः) उसका कार्यत्वयोग=कार्यरूप में=महत्तत्त्वादि भूत-भौतिक पर्यन्तकार्यरूप में परिणत हो जाना योग अनिवार्य अवसर है ही (पारवश्यात्) परवशता से परवशवर्ती होने से पुनः कार्यरूप में परिणत होगी ही। जो 'पर' है वह उसे कार्यरूप में परिणत कर देता है। अतः कारण के कार्यरूपपरिणाम

धर्मवाला होने से, कार्यरूप में पुनः प्रवर्तन से पुनरुत्थान होता ही है, कारणलय में कृतकृत्यता नहीं ॥ ५५ ॥

जिसके वश में प्रकृति है वह 'पर' कैसा है, इस आकांक्षा में कहते हैं—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता ॥ ५६ ॥

(सः—हि) वह 'पर' जो प्रकृति को कार्यरूप में परिणत करता है निश्चय ही (सर्ववित् सर्वकर्ता) सर्वज्ञ और सर्वकर्ता पुरुषविशेष है ॥ ५६ ॥

और—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ ५७ ॥

(ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा) ऐसे सर्वज्ञ, सर्वकर्ता ईश्वर की सिद्धि= सत्ता नित्य है, अनिवार्य है, जिस की सिद्धि के लिये योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष प्रथम अध्याय में हम सांख्यों ने प्रदर्शित किया है। योगियों के उस भीतरी प्रत्यक्ष से और श्रुति से ईश्वर की सिद्धि नित्य है, अनिवार्य है— **''त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि''** (तै० उ० १। १)=तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। **''यो विद्यात्प्रत्यक्षं ब्रह्म''** (अथर्व)=जो ब्रह्म को प्रत्यक्ष जाने। **''स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। प्रधानक्षेत्रज्ञम-तिर्गुणेशः संसारस्थितिमोक्षहेतुः''** (श्वेता० ६। १६)=वह सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, आत्माधार, चेतन, काल, का काल अनन्तगुणशक्तिवाला, प्रकृति-जीवात्मा का स्वामी, गुणों का स्वामी, सृष्टिस्थितिप्रलय का हेतु है ॥ ५७ ॥

प्रकृति के सृष्टिपरिणाम में जीवात्माओं का क्या प्रयोजन है, यह विस्तार से कहते हैं—

प्रधानसृष्टिः परार्थं
स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ॥ ५८ ॥

(प्रधानसृष्टिः परार्थम्) प्रकृति की सृष्टि पुरुष के अर्थ है। क्योंकि (स्वतः—अपि—अभोक्तृत्वात्) अपि हेतु के अर्थ में है, इसलिये कि प्रकृति स्वयं भोगनेवाली नहीं होने से उसकी सृष्टि परार्थ पुरुष के लिये है। इसमें दृष्टान्त कहते हैं—(उष्ट्र कुङ्कुमवहनवत्) जैसे ऊंट का केसर ढोना दूसरे के लिये है, वह उसका भोग करने वाला नहीं होने से। ऊंट केसर नहीं खाता परन्तु उसको ढोता है, तब उसका ढोना दूसरे के लिये ही है। वैसे ही प्रकृति की सृष्टि स्वार्थ न होते हुए दूसरे के लिये है,

अर्थात् पुरुष के लिये है ॥ ५८ ॥

अच्छा, हो प्रकृति की सृष्टि परार्थ=पुरुष के निमित्त उसके अभोक्तृत्व से, किन्तु वह अचेतन होती हुई कैसे पर-अर्थ को साधती है, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥ ५९ ॥

(प्रधानस्य) प्रकृति के (अचेतनेत्वे—अपि) अचेतन होने पर भी (क्षीरवत्—चेष्टितम्) उसकी क्षीर की भांति चेष्टा है, जैसे क्षीर=दूध अचेतन होता हुआ भी गौ के आश्रित बछड़े के लिये झुक जाता है। इसी प्रकार प्रकृति भी ब्रह्म के आश्रित जीवात्मा के लिये महत्तत्त्व आदि रूप से झुक जाती है ॥ ५९ ॥

इसी विषय में अन्य दृष्टान्त दिया जाता है—

कर्मवत् कृष्टे [दृष्टे ?*] र्वा कालादेः ॥ ६० ॥

(वा कृष्टेः कर्मवत्) अथवा कृष्टि के कर्मवत्=कृषिकर्म की भांति। जैसे कृषिकर्म में खेती के कार्य में बोया हुआ बीज वृक्ष होने में चेष्टा करता है, "**तत्र तस्येव**" (अष्टा० ५। १। ११६) सप्तमी में वत्। (कालादेः) कालादि के वश=कालवश किसान के प्रयत्नवश। वैसे ही प्रकृति भी सृष्टिकर्म में सृष्टि होने के लिये चेष्टा करती है, कालादिवश=कालवश= ईश्वरप्रेरणावश ॥ ६० ॥

कैसे प्रकृति विचारशून्य होती हुई समय पर ईश्वर की प्रेरणा से चेष्टा करे, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् ॥ ६१ ॥

(अनभिसन्धानात्—चेष्टितम्) प्रकृति की चेष्टा विचार के बिना (स्वभावात्—भृत्यवत्) स्वभाव से=चेष्टनस्वभाव वाले भृत्य की भांति

---

* अनिरुद्धवृत्ति से यहाँ सूत्र में 'कृष्टेः' पाठ लक्षित होता है। वहां "यथा कृषिवलेन कृतं कर्म धान्यारोपणादि कालादेव फलति" (अनिरुद्धः) अर्थात् "जैसे किसान द्वारा किया कर्म अन्न का बोना आदि काल से ही फलता है।" "दृष्टेः' पद तो निरर्थक ही है। इसके अर्थ की असङ्गति तो विज्ञानभिक्षुभाष्य में भी है। "कल्पनाया दृष्टानुसारित्वात्" (विज्ञानभिक्षु) अर्थात् कल्पना दृष्टानुसारी होने से। यहां कल्पना से साधना नहीं है, यदि 'दृष्टेः' पद हो तो पूर्व सूत्र में और उत्तर सूत्र में यह पद होना चाहिए, अर्थ की असङ्गति सर्वत्र भी है।

होती है। जैसे भृत्य=सेवक की चेष्टा बिना विचार-विवेचन के स्वभाव से होती है।

स्वामी के लिये चेष्टा करना उसका स्वभाव=स्वाभाविक गुण है।

यहां ''तथैव प्रकृतेश्चेष्टितं संस्कारादेव'' (विज्ञानभिक्षु) का जड़ प्रकृति में संस्कार कथन करना नितान्त असङ्गत है॥ ६१॥

प्रकृति की चेष्टा में दूसरा हेतु कहते हैं—

कर्माकृष्टेर्वाऽप्यनादितः॥ ६२॥

(वा) अथवा (अनादितः) अनादि से=प्रवाहरूप अनादि काल से (कर्माकृष्टेः—अपि वा) कर्मों द्वारा आकर्षण से प्रकृति चेष्टा करती है= सृष्टिरूप में परिणत होती है। अनादिकाल से कर्मों द्वारा प्रकृति आकर्षित की जाती है सृष्टिरूप होने के लिये। उसके परतन्त्र होने से और परार्थ जीवात्मा के निमित्त होने से, बलात् खींची जाती है, सृष्टिरूप होने के लिये। अतः प्रकृति सृष्टिरूप होने के लिये चेष्टित होती है, यह यौक्तिक बात है॥ ६२॥

यदि अनादिकाल से कर्मों द्वारा आकर्षण से प्रकृति की सृष्टि है, तब तो मुक्ति न हो सके। इस सम्बन्ध में उत्तर है—

विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके॥ ६३॥

(विविक्तबोधात्) विवेक को प्राप्त हुए पुरुष के बोध से (प्रधानस्य सृष्टिनिवृत्तिः) प्रकृति की सृष्टिनिवृत्ति=सृष्टिसमाप्ति हो जाती है (सूदवत् पाके) जैसे पाक भोजन=पाक तैयार हो जाने पर पाचक रसोई से निवृत्त हो जाता है अलग हो जाता है। ऐसे सृष्टि से=सृष्टि रचना से प्रकृति निवृत्त हो जाती है॥ ६४॥

अथवा

इतर इतरज्जहाति *तद्दोषात्॥ ६४॥

(इतरः—इतरत्) प्रधान से इतर पुरुष अपने से इतर=भिन्न प्रधान को (जहाति) त्यागदेता है (तद्दोषात्) उसके दोषदर्शन से। तब वह प्रधान से निवृत्त हो जाता है। यह प्रधान से पुरुष की विमुक्ति है॥ ६४॥

---

* 'इतर इतरज्जहाति' पाठ अनिरुद्ध वृत्ति का ठीक है, उत्तर सूत्र के साथ दोनों की उदासीनता की सङ्गति से। 'इतर इतरवत्' विज्ञानभिक्षु के पाठ में अर्थ की क्लिष्ट कल्पना है।

इस प्रकार—

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥ ६५ ॥

(द्वयोः—एकतरस्य वा—औदासीन्यम्—अपवर्गः) 'वा' च के अर्थ में क्रम बोधनार्थ है। 'द्वयोः—औदासीन्यम्' और 'एकतरस्य—अपवर्ग'। पूर्वोक्त दो सूत्रों से दोनों प्रकृति—पुरुष का औदासीन्य=उदासीनता दिखलाई। सो दोनों की यह औदासीन्य=उदासीनता हो जाने पर—दोनों की इस उदासीनता में 'एकतरस्य—अपवर्गः' अपवर्ग=मोक्ष तो एक पुरुष का होता है, यह सिद्धान्त है।

इस सूत्र का भी अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में ठीक अर्थ नहीं, पुरुष का अपवर्ग होता है प्रकृति का नहीं॥ ६५॥

यह कैसे, इस आकांक्षा में कहते हैं—

अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यतेऽप्रबुद्धरज्जु-त्वस्येवोरगः * ॥ ६६ ॥

(अन्यसृष्ट्युपरागे—अपि) अपि शब्द हेतु प्रदर्शनार्थ है। यद्यपि प्राप्तविवेक पुरुष के प्रति प्रकृति सृष्टि कार्य से निवृत्त हो जाती है, तब वह उदासीन हो जाती है, परन्तु जो अन्य=अविवेकयुक्त पुरुष है उसके लिये सृष्टिविषयक उपराग तो प्रकृति का है ही, अतः अविवेकयुक्त से (न विरज्यते) वह विरक्त नहीं होती=सृष्टि कार्य में अप्रवृत्त=अलग नहीं होती, उसका अपवर्ग=मोक्ष नहीं होता। किस भांति? (अप्रबुद्धरज्जुत्वस्य—इव—उरगः) उरग=सर्प, रज्जुसर्प=रस्सी में सर्पभ्रम, जैसे अज्ञातरज्जु-स्वरूप=जिसने रस्सी के स्वरूप को नहीं जाना, उस पुरुष का सर्पभ्रम निवृत्त नहीं होती। इसी प्रकार जिसको विवेक नहीं हुआ उस अविवेकी पुरुष के प्रति प्रकृति सृष्टिरचना से विरक्त नहीं होती, विमोक्ष तो विवेक को प्राप्त हुए का ही होता है। अतः पुरुष के ही मोक्ष में सिद्धान्त है॥ ६६॥

और भी—

कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥ ६७ ॥

(कर्मनिमित्तयोगात्—च) तथा प्रकृति विरक्त नहीं होती इस विषय

---

* अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में यहां "न विरज्यते प्रबुद्ध....." पाठ है परन्तु सन्ति के अवलम्बन से वास्तविक पाठ सूत्र शैली से 'अप्रबुद्ध.....' है।

में यह भी अन्य हेतु है कि कर्मनिमित्त योग है=सम्बन्ध प्रकृति का है। जिस पुरुष का कर्म अवशिष्ट है उसके फलभोग के लिये प्रकृति का योग होना ही है, उसके साथ प्रकृति युक्त होती है ही—"**कर्माकृष्टेर्वाप्य-नादितः**" (सांख्य० ३। ६२) में जैसा कहा गया है, कर्मों द्वारा उसके आकृष्ट होने से। अतः प्रकृति का अपवर्ग नहीं होता किन्तु पुरुष का ही होता है॥ ६७॥

प्रकृति परार्थ है, स्वार्थ नहीं। पुनः स्वार्थहीन निरपेक्ष होती हुई प्रकृति किसी भी पुरुष के प्रति प्रवृत्त होती है, यह दूसरी युक्ति से प्रदर्शित करते हैं—

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम्॥ ६८॥

(नैरपेक्ष्ये—अपि) प्रकृति के निरपेक्ष होने पर भी प्रकृति की किसी के भी साथ विशिष्ट सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, उसके समानभाव से परार्थ होने से। तथापि (प्रकृत्युपकारे) सृष्टिरूपता से प्रकृति जिस किसी को भी उपकृत करती है=जिस किसी के प्रति प्रवृत्त होती है, उसमें (अविवेकः—निमित्तम्) अविवेक निमित्त है उस पुरुष का॥ ६८॥

और फिर—

नर्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यत्वात्॥ ६९॥

(प्रवृत्तस्य—अपि) अविवेकी पुरुष के प्रति प्रवृत्त हुए प्रधान का= प्रकृति नामक अव्यक्त की (चारितार्थ्यत्वात्) चरितार्थत्व से=प्रयोजन समाप्ति से=स्वरूप प्रदर्शनद्वारा कृतकार्य हो जाने से (निवृत्तिः—नर्तकीवत्) निवृत्ति हो जाती है नर्तकी की भाँति। जैसे नर्तकी=नाचने वाली, सभाजनों के प्रति नाच प्रदर्शन के लिये प्रवृत्त हुई भी, नाचकार्य समाप्त हो जाने पर, नाच से स्वस्वरूप दिखला कर निवृत्त हो जाती है॥ ६९॥

तथा उसकी निवृत्ति को अन्य दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं—

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत्॥ ७०॥

(दोषबोधे—अपि) अपि शब्द दूसरे हेतु और दृष्टान्त के प्रदर्शनार्थ है। प्रकृति सृष्टिकार्य से निवृत्त हो जाती है। इस में दूसरा हेतु और दृष्टान्त यह भी है कि पुरुष के द्वारा प्रकृति के दोष ज्ञात हो जाने पर—परिणामित्व= पुनर्जन्म का निमित्त होना, दुःखरूप आदि दोष ज्ञात हो जाने पर (प्रधानस्य—उपसर्पणं न) उस ज्ञातदोष पुरुष के प्रति प्रकृति का उपसर्पण=

पहुँचना नहीं होता। उस समय प्रकृति उसके समीप उपस्थित होती है किन्तु उससे निवृत्त हो जाती है। उस में दृष्टान्त है—(कुलवधूवत्) कुलवधू की भांति। जैसे कुलवधू जिसके दोष प्रकट हो चुके, वह पुनः पुरुष के पास नहीं जाती है किन्तु सकुचाती है, अपने को सङ्कुचित करती है। उससे निवृत्त होती है, उसी प्रकार प्रकृति भी दोषों के ज्ञात हो जाने पर सङ्कुचित होती है, अपने को प्रकट नहीं करती है, उस से हटती ही है। जैसे नारदीय वचन है—"सविकाराऽपि मौढ्येन चिरं भुक्त्वा गुणात्मना। प्रकृतिर्ज्ञातदोषेयं लज्जयेव निवर्तते"॥ ७०॥

यदि प्रकृति ही ज्ञातदोष विवेक को प्राप्त हुए पुरुष से निवृत्त होती है और अज्ञातदोष=अविवेकयुक्त के प्रति प्रवृत्त होती है, तो पुरुष में कैसे बन्ध से मोक्ष का व्यवहार होता है? इसमें कहते हैं—

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते॥ ७१॥

(पुरुषस्य बन्धमोक्षौ) पुरुष का=आत्मा का बन्ध और फिर उससे मोक्ष (एकान्ततः—न) स्वरूपतः नहीं हैं, आत्मा स्वरूपतः न बद्ध न मुक्त। पूर्व कहा भी है—"**व्यावृत्तोभयरूपः**" (सांख्य० १। १६०), क्योंकि (अविववेकात्—ऋते) अविवेक के बिना पुरुष का बन्ध होना, पुनः उस से मोक्ष होना नहीं बन सकता। अविवेक का अवलम्बन करके ही पुरुष बन्धता है और अविवेक नाश से फिर बन्ध से छूटता है। यदि अविवेक न हो तो पुरुष के बन्ध और फिर मोक्ष का प्रसङ्ग ही उपस्थित न हो॥ ७१॥

अतः—

प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत्॥ ७२॥

(प्रकृतेः—आञ्जस्यात् ससङ्गत्वात्) पुरुष का जो बन्ध और पुनः उस से मोक्ष है, वह प्रकृति का आञ्जस्य=अनायास से ससङ्ग=सहयोगी पुरुष है, उसके ससङ्ग=सङ्गी, सहयोगी होने से (पशुवत्) पशु के समान बन्ध और मोक्ष होते हैं। जैसे पशु यूप (=खूंटे) के सङ्ग से रस्सी द्वारा बन्ध जाता है, पुनः उससे मुक्त हो जाता है।

दूसरा व्याख्यामार्ग—(प्रकृतेः—आञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत्) प्रकृति का अनायास से, निसर्ग से, शाश्वतता से पुरुष के साथ सङ्ग है, उसके परार्थ होने से, पुरुष के निमित्त होने से, पुरुष की सङ्गिनी सहयोगिनी होने से, पशु की भांति बन्ध फिर उससे मोक्ष होता है। जैसे पशु परार्थ=

पर मनुष्य अर्थात् उसका स्वामी, उसके पालन में बन्ध जाता है तथा त्याग में विमुक्त हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृति के साथ पुरुष सङ्ग से अपने को बन्धा हुआ तथा उसके सङ्गत्याग से मुक्त हुआ अनुभव करता है॥ ७२॥

उन बन्ध और मोक्ष में विवेक और अविवेक का प्रकार प्रदर्शित करते हैं—

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद् विमोचयत्येकेन रूपेण॥ ७३॥

(प्रधानं सप्तभिः—रूपैः) प्रकृति सात रूपों से—महत्तत्त्व, अहङ्कार, पांच तन्मात्राओं से=अवस्थान्तर विकाररूपों से (आत्मानं बध्नाति) आत्मा को बान्धती है, क्योंकि इससे आत्मा के अन्तःकरण और इन्द्रियां बनती हैं। कहा है—"**प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम्**" (सांख्य० १।६१) तथा "**महदादिक्रमेण.....आत्मार्थत्वात् सृष्टेः.....**" (सांख्य० २।१०, ११) महत्तत्त्वादि क्रम से स्थूल भूतों से पूर्व सृष्टि आत्मा के करणोपकरणार्थ है। प्रकृति इन सातरूपों से आत्मा को कैसे बान्धती है इस में दृष्टान्त है—(कोशकारवत्) तन्तुकीट की भांति। जैसे तन्तुकीट तन्तुओं से बान्धता है। यहां दृष्टान्त का एक ही अंश बन्धनमात्र अभीष्ट है, सर्वांश नहीं। अथवा प्रकृति का आत्मा चेतन पुरुष है, उसे बान्धती है। पुनः (एकेन रूपेण विमोचयति) एक रूप से=स्वरूपभूत प्रकृति रूप से सृष्टिनिवर्तन से विमुक्त करती है। बन्ध तो पुरुष का ही है और वह अविवेक से। विवेक-अविवेक पुरुष में रहने वाले हैं।

पूर्व और इस सूत्र में प्रकृति का बन्धन और मोक्ष कथन करना अन्य भाष्यकारों का प्रलापमात्र है। अनेकसूत्रों से पुरुष का ही बन्ध अविवेक से है और विवेक हो जाने पर मोक्ष पुरुष का होना है॥ ७३॥

कैसे कहते हो महत्तत्त्वादि सात रूपों से बन्ध होता है, जबकि अविवेक बन्ध का कारण है। यहां दृष्ट कारण की हानि होती है—"**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति**" (यजु० ३१।१८)=अज्ञान=अविवेक श्रुतिदृष्ट-कारण बन्ध का है। इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः॥ ७४॥

(अविवेकस्य निमित्तत्वम्) महत्तत्त्व आदि कथन में अविवेक

की निमित्तता है। महत्तत्त्व आदि से बन्ध में अविवेक निमित्त है। जिसे अविवेक होगा, उसे ही महत्तत्त्व आदि से प्रकृति बान्धती है। अतः (दृष्टहानिः—न) साक्षात् कारण=बन्धकारण की हानि नहीं। क्योंकि साक्षात् निमित्त तो बन्ध का अविवेक ही है। अविवेक निमित्त से ही पुरुष की प्रवृत्ति और इसी कारण महत्तत्त्वादि सृष्टि है॥ ७४॥

अविवेक बन्ध का निमित्त है। उसकी निवृत्ति विवेक से होती है। विवेकसिद्धि का क्या उपाय है, इस आकांक्षा में कहते हैं—

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः॥ ७५॥

(तत्त्वाभ्यासात्) तत्त्वचिन्तन से=आत्मा-परमात्मा के मनन आदि से। कि (न—इति न—इति) जो-जो वस्तु किसी भी साधन से, मन से भी अनुभव में आये, वह नहीं है, नहीं है, तत्त्व अर्थात् परमात्मा। (इति त्यागात्) इस प्रकार त्याग प्रकार से (विवेकसिद्धिः) विवेक की=परमात्मा के साक्षात्कार की सिद्धि स्वात्मा में होती है। जैसे कहा है—"**अथात आदेश नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति**" (बृह० २। ३। ६) "**स एष आत्मा नेति नेति**" (बृह० ३। ४। २६)॥ ७५॥

और वह विवेकसिद्धि सब की समान नहीं होती यह कहते हैं—

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः॥ ७६॥

(अधिकारिप्रभेदात्—) अधिकारियों=विवेकाभ्यासियों के प्रभेद से (नियमः—न) सब की विवेकसिद्धि समान होने का नियम नहीं है। सब का विवेक समान नहीं होता, क्योंकि अधिकारी मृदु, मध्य, अधिमात्र अर्थात् मन्द, मध्यम, उत्तम होते हैं। योगदर्शन में कहा है—"**मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः**" (योग० १। २२)॥ ७६॥

इसीलिये—

बाधितानुवृत्तेर्मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः॥ ७७॥

(मध्यविवेकतः) मध्यविवेक से (बाधितानुवृत्तेः—अपि) बाधित करदी, अनुवृत्ति=अनुरक्ति=अनुरागरूपप्रवृत्ति जिस अभ्यासी ने उस ऐसे विवेकाभ्यासी का भी (उपभोगः) उपभोग तत्कालीन होता है, जब तक प्रारब्धभोगसमाप्ति हो। अधिमात्र विवेकी=उत्तमविवेकी का सर्वथा भोगाभाव हो जाता है। अथवा (मध्यविवेकतः—अपि—उपभोगः) मध्यविवेक से भी उपभोग होता है। (बाधितानुवृत्तेः) विवेकाभ्यास से बाधित विषयों की अनुवृत्ति से=अनुवर्तमानता से वे अनुवर्तमान रहते हैं

शरीर के साथ, जब तक शरीर है उस मध्य विवेकी का, शरीर के नाश के साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ७७ ॥

जीवन्मुक्तश्च ॥ ७८ ॥

(जीवन्मुक्तः—च) वह मध्यविवेकी जीवन्मुक्त होता है, तब वह जीवन्मुक्त कहलाता है। "**आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पुरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।**" (बृह० ४। ४। १२)= मनुष्य आत्मा को यदि जानता है कि 'यह मैं हूँ' तो किसे चाहता हुआ किसकी कामना के लिये चिन्ता करे, आदि ॥ ७८ ॥

जीवन्मुक्ति की सिद्धि में युक्ति कहते हैं—

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥ ७९ ॥

(उपदेश्योपदेष्टृत्वात्) विवेकार्थी उपदेश्य है, उसका विवेकोपदेष्टा होना चाहिए। अतः (तत्सिद्धिः) उस जीवन्मुक्त विवेकसम्पन्न की सिद्धि=अस्तित्वसिद्धि होती है ॥ ७९ ॥

इस विषय में—

श्रुतिश्च ॥ ८० ॥

(श्रुतिः—च) 'च' अपि के अर्थ में है। इस विषय में=जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में, जीवन्मुक्त के अस्तित्वसिद्धि के सम्बन्ध में युक्ति ही है ऐसा नहीं, किन्तु श्रुति भी प्रमाण है—"**द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च। जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः ॥** (मुक्तिको० २। ३२)। योगदर्शन में भी दो प्रकार से चित्त का नाश कहा है—एक तो सरूपनाश चित्त होता हुआ भी आत्मा के रूप में स्थित हो गया। दूसरा हुआ अरूपनाश देह से छूट जाने पर। "चित्तम्—आत्मकल्पेन वा व्यवतिष्ठते प्रलयं वाधिगच्छति" (योग० व्यासः)=योगदर्शन में व्यास ने कहा है कि निरुद्धचित्त की दो स्थितियां होती हैं, या तो आत्मा के रूप को धारण लेता है=उस में शान्तरूप से स्थिर हो जाता है या उसका प्रलय हो जाता है ॥ ८० ॥

लोकदृष्टि से जीवन्मुक्त की सिद्धि सूचित करते हैं—

इतरथाऽन्धपरम्परा ॥ ८१ ॥

(इतरथा) अन्यथा, यदि ऐसा जीवन्मुक्त उपदेष्टा न हो तो (अन्धपरम्परा) अविवेक की अन्धपरम्परा का प्रसङ्ग हो जावे। किसी को भी विवेक न हो सके। अतः जीवन्मुक्त की सिद्धि है ॥ ८१ ॥

वह जीवन्मुक्त विवेकसम्पन्न हुआ कैसे शरीर धारण करता है, अविवेक नाश पर तो शरीर से विमुक्त हो जाना चाहिए ? इस विषय में कहते हैं—

चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः ॥ ८२ ॥

(चक्रभ्रमणवत्) जैसे कुम्हार का चाक दण्डे से घुमाया हुआ घुमाने के साधन दण्डे के हटा लेने पर भी कुछ काल तक घूमता रहता है, उसके शेष वेग या वेगलेश के कारण। वैसे ही जीवन्मुक्त भी (धृतशरीरः) शरीर धारण किए हुए सशरीर रहता है। कहा भी है "**दीक्षयैव नरो मुच्येत् तिष्ठन् मुक्तोऽपि विग्रहे। कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमद् घटः ॥**" तथा "अशुक्लकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति" (योग० ४।७० व्यासः) चरमदेहवाले=अन्तिमदेहवाले, क्षीणक्लेशों वाले संन्यासियों की कर्मगति पुण्यपाप से रहित होती है॥ ८२ ॥

इसलिये—

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥ ८३ ॥

(संस्कारलेशतः) किए हुए कर्मों के भोगरूप विषयों के संस्कार लेश से=संस्कार के आभास से (तत्सिद्धिः) जीवन्मुक्त के शरीर धारण की सिद्धि होती है॥ ८३ ॥

वस्तुतः—

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यो नेतरान्नेतरात् ॥ ८४ ॥

(विवेकात्—निःशेषदुःखनिवृत्तौ) पूर्ण विवेक से समस्त दुःख-निवृत्ति होती है। तब ही (कृतकृत्यः) पुरुष कृतकृत्य=सफल होता है (इतरात्—न) भिन्न से=विवेक को छोड़ अन्य साधन से अर्थात् केवल कर्म से नहीं। 'नेतरात्' द्विवार कथन अध्याय की समाप्ति के लिये है॥ ८४ ॥

सांख्यदर्शन में स्वामिब्रह्ममुनिभाष्यसहित
तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

❑❑